आर्यसमाज

के

स्वर्णिम सिद्धान्त

श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

[संसार को नया प्रकाश देने में समर्थ धर्म के प्रेरक यह नियम १९वीं सदी की महान् उपलब्धि हैं। —सम्पादक]

आर्यसमाज के नियम

"आर्यसमाज" आर्य और समाज दो शब्दों से मिलकर बना है। आर्य किसे कहते हैं? महर्षि वेदव्यासजी ने निम्न आठ गुणों से युक्त व्यक्ति को आर्य कहा है—

शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः॥

जो शान्त हो, सहनशील हो, मन को वश में रखनेवाला, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानी, दयालु और नम्र हो वह आर्य कहलाता है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में "आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का है।" और श्री अरविन्द के शब्दों में "मानवीय भाषा में इससे उत्तम और कोई शब्द नहीं है।"

समाज का अर्थ है नियमबद्ध मनुष्यों का समूह। पशुओं के संघटन को समज कहते हैं क्योंकि उनमें नियमबद्धता नहीं होती, कोई खड़ा है, कोई बैठा है, कोई खा रहा है, किसी का मुंह इधर है और किसी का उधर। इस प्रकार "आर्यसमाज" का अर्थ है, नियमबद्ध, श्रेष्ठ, सदाचारी तथा धार्मिक मनुष्यों का संघटन। इस आर्यसमाज शब्द में बड़ी शिक्षा, महत्ता तथा गौरव है।

यह तो हुई आर्यसमाज शब्द की व्युत्पत्ति। आर्यसमाज एक संघटन है जिसकी स्थापना महर्षि दयानन्द द्वारा सं० १९३२ वि० में सबसे प्रथम बम्बई में हुई थी।

संसार नियमों के आधार पर स्थित है। समस्त संसार—महान् सूर्य से लेकर अतिसूक्ष्म परमाणु तक सभी नियमों के अधीन है। सर्वत्र पूर्ण व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। सूर्य नियमितता से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, यह ठीक समय पर उदय होता है और ठीक समय पर अस्त होता है। चन्द्रमा नियम से घटता और बढ़ता है। ग्रह और नक्षत्र सभी नियमित मर्यादा में घूमते हैं। जिस प्रकार ज्योतिषशास्त्र (Astronomy), भौतिक-शास्त्र (Physics) और गणित-शास्त्र के नियम हैं ठीक इसी प्रकार समाज के भी कुछ नियम होते हैं। आर्यसमाज को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिए महर्षि दयानन्द ने दस नियमों का निर्माण किया है।

आर्यसमाज के नियम सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। आर्यसमाज की स्थापना ऐसे सर्वव्यापक और सर्वहितैषी नियमों पर हुई है कि संसार के समस्त देश और राष्ट्रों के निवासी उन पर चलकर अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकते हैं। आर्यसमाज के दस नियम सार्वभौमिक हैं। यदि ये नियम व्यवहार में आ जाएँ तो मनुष्यों के आपस के भेद-भाव दूर होकर सामंजस्य और सौजन्य स्थिर होगा तथा सभी एक-दूसरे की उन्नति में सहयोग देते हुए स्वयं भी समुन्नत होंगे। जो व्यक्ति आर्यसमाज के नियमों को अपनाएगा वह सब की उन्नति में सहयोग देगा। इस प्रकार आपस में ईर्ष्या, घृणा, वैमनस्य कलह आदि न उभर सकेंगे।

आर्यसमाज के नियम सब समाजों, सब देशों, सब राष्ट्रों, सब व्यक्तियों और सब अवस्थाओं के लिए एक समान हैं। कोई भी समाज इन्हें प्रयोग में ला सकता है। ये नियम आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द की विद्वत्ता, अगाध पाण्डित्य और ऋषित्व के परिचायक हैं। इन नियमों में महर्षि के हृदय का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से झलक रहा है। आगे के पृष्ठों में इन्हीं नियमों के ऊपर प्रकाश डाला जायेगा।

प्रथम नियम

सब सत्य विद्याओं का आदिमूल—

सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।

—ऋ० २। २३। २

तू ही सम्पूर्ण ज्ञानों का, विद्याओं का उत्पन्न करने वाला है।

आर्यसमाज का पहला नियम यह बताता है कि आर्यसमाज एक आस्तिक समाज है। आर्यों का यह दृढ़ विश्वास है कि हमारी ही भाँति ईश्वर भी विद्यमान है। यह नियम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह नियम बताता है कि सब सत्य विद्याओं का आदि-

मूल परमेश्वर है। यह तो अनुभव-सिद्ध बात है कि मनुष्य बिना सिखाये कुछ नहीं सीख सकता। भाषा के बिना मनुष्य न कुछ सोच सकता है और न किसी प्रकार का ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। 'भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?' इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया परन्तु ये सारे सिद्धान्त भाषा उत्पत्ति की समस्या का समाधान न कर सके। दबी जबान में सभी भाषा-शास्त्री इस बात से पूर्णरूपेण सहमत हैं कि भाषा ईश्वरीय देन है। अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि ईश्वर ही आदि गुरु है। इसी भाव से महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्।

—यो० द० १। २५

वह परमात्मा सृष्टि के आरम्भ के गुरुओं का भी गुरु है; सभी गुरु काल के गाल में चले जाते हैं परन्तु वह कालातीत है। सचमुच वही ज्ञान के मूल वेदों का उत्पादक है।

किरणें समस्त संसार को प्रकाश देती हैं, परन्तु किरणें कहाँ से आती हैं ? सूर्य से। अतः सूर्य किरणों का उत्पादक है। जहाँ भी प्रकाश है वह सूर्य का है, ठीक इसी प्रकार जहाँ भी ज्ञान है वह भगवान् का है, भगवान् विद्याओं का आदिमूल है।

सूर्य एक स्थान पर रहकर प्रकाश करता है परन्तु ईश्वर सर्वव्यापक है। अतः उसका ज्ञान भी सर्वत्र है। आज भी भगवान् ज्ञान दे रहे हैं, जब कभी किसी के मन में पाप करने की इच्छा होती है तब उसके अन्दर से उसके विरुद्ध एक ध्वनि उठती है, वह ध्वनि परमात्मा की ओर से होती है। ऋषि ने कहा है—

जो पापाचरणेच्छा समय में भय, शंका लज्जा उत्पन्न होती है वह परमात्मा की ओर से है।

—स० प्र० सप्तम समु०

इस नियम का दूसरा भाग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह भाग बताता है कि न केवल सत्यविद्या = वेद अपितु "जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।" सूर्य से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड का मुख्य कारण भी परमेश्वर ही है।

संसार में कोई मरना नहीं चाहता परन्तु सब मरते हैं, इन्हें कौन मारता है ? अपने आप कोई वस्तु नहीं बनती, इन्हें कौन बनाता है ? विवश होकर मानना पड़ता है कि कोई महान् शक्ति है। वही इन का आदिमूल है। संक्षेप में सम्पूर्ण विद्याओं, नाना प्रकार के ज्ञान और ज्ञान द्वारा जानने योग्य पदार्थों का आदि कारण परमात्मा है, उसी की प्रेरणा से यह सारा आध्यात्मिक और प्राकृतिक जगत् विकसित होता है।

दूसरा नियम

ईश्वर का स्वरूप—

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है उसीकी उपासना करनी योग्य है। स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

—यजु० ४० । ८

एक एव नमस्य विक्ष्वीड्यः। —अथर्व २ । २ । १

ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वोत्पादक, काया और छिद्ररहित, नस-नाड़ी के बिना, पाप से शून्य, क्रान्तदर्शी, मन का स्वामी, विजयी और स्वयंभू है तथा अनादि काल से सम्पूर्ण पदार्थों की यथायोग्य रचना करता है।

एक अद्वितीय परमात्मा ही उपासना के योग्य है।

रचना को देखकर रचयिता का ज्ञान होता है। इस ब्रह्माण्ड की वैज्ञानिक, विचित्र और अद्भुत रचना को देखकर हमें विवश होकर ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। ईश्वर के विषय में लोगों में नाना भ्रान्तियाँ हैं, कोई उसे चौथे आसमान पर मानता है, कोई सातवें पर और कोई क्षीरसागर में। प्रश्न उत्पन्न होता है हम कैसे ईश्वर को मानें ? इस नियम में ईश्वर के विशेषणों का उल्लेख कर उसका सच्चा स्वरूप बताया गया है।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। प्रकृति और जीव से भिन्नता प्रकट करने के लिए ईश्वर को सच्चिदानन्द कहा गया है। प्रकृति सत् है, जीव सत्, चित् है और ईश्वर सत्, चित् आनन्द है। उसके आनन्द को हम प्रतिदिन चाहते हैं। यह चाहना यह बता रही है कि वह कहीं है और हमने कभी उसका उपभोग भी किया है। वेद में भी कहा है—

त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते। —ऋ० १।५९।१

तुझ में सब भक्त आनन्द पाते हैं।

ईश्वर निराकार है। परमात्मा का कोई शरीर नहीं है और जब उसका कोई शरीर, आकार ही नहीं है तब उसकी मूर्त्ति भी नहीं बनाई जा सकती।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। अपने कार्य में ईश्वर किसीकी सहायता नहीं लेता। कृषक जो ऋषि के शब्दों में **"राजाओं का राजा है"**, हल, बैल, बीज आदि का दास है। परन्तु ईश्वर अपनी सृष्टि-रचना आदि कार्य में किसीकी सहायता नहीं लेता, अतः वह सर्वशक्तिमान् है। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं कि ईश्वर अपने बनाये नियमों को तोड़कर जैसा चाहे वैसा कर ले। ईश्वर चोरी और भ्रष्टाचार नहीं कर सकता, झूठ नहीं बोल सकता, अपने जैसा दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता, अपने कन्धे

पर स्वयं नहीं चढ़ सकता, अपने आपको मार नहीं सकता और किसी भी व्यक्ति को अपने राज्य से बाहर नहीं निकाल सकता। सर्वशक्तिमान् का भाव यह है कि ईश्वर अपने कार्यों में दूसरे के अधीन नहीं है।

ईश्वर न्यायकारी है। ईश्वर सबके साथ न्याय करता है, अन्याय कभी नहीं करता। जैसा कोई करता है वैसा ही उसे फल देता है, दुष्टों को दण्ड देता है। ब्राह्मण हो या चाण्डाल, राजा हो या रंक सब के साथ न्याय करता है, किसीके साथ भेद-भाव नहीं करता और न किसीकी सिफारिश सुनता है। प्रभु जीवों को कर्मों का फल देता है यह उसकी सब से बड़ी दया है।

ईश्वर दयालु है। संसार के सभी प्राणी उसकी दया के पात्र हैं। ईश्वर ने हमें रहने को भूमि, भोजन के लिए फल तथा अन्न और वायु, जल, उद्यान आदि प्रदान किये हैं। एक बीज बोकर सहस्रोंफल मिलते हैं। नास्तिक और अपराधी भी उसके राज्य में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। ये सब प्रभु की दया के प्रबल प्रमाण हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर दयालु है तो न्यायकारी नहीं हो सकता क्योंकि यदि वह चोर-डाकुओं को दण्ड देता है तो दयालु नहीं रहा। यदि उन्हें छोड़ देता है तो उसका न्याय नष्ट होता है। यह बात ठीक नहीं। चोर-डाकुओं को छोड़ देना उन पर दया नहीं है अपितु उनकी आत्मा को कलंकित करना है और भद्र पुरुषों पर अत्याचार है। सच्ची दया न्याय में है जिससे चोर-डाकू भी सुधर जाएँ और सदाचारी पुरुष भी सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत कर सकें? उसकी रचना में न्याय और दया अंग-संग चलते हैं। दोनों गुण एक-दूसरे के पूरक हैं।

ईश्वर अजन्मा है। ईश्वर सदा से है और सदा रहेगा, फिर उसका अवतार कैसे हो सकता है? वह सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है फिर उसका अवतार = उतरना कैसे सम्भव हो सकता है। वह जन्म-मरण के बन्धन से रहित है।

ईश्वर अनन्त है। सूर्य-चन्द्र आदि सब का आरम्भ भी है और अन्त भी है, परन्तु ईश्वर का न कोई आदि है और न अन्त है। वह सर्वत्र व्याप्त है अतः वह अनन्त है।

ईश्वर निर्विकार है। ईश्वर जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति, बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाओं में नहीं आता, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वह सदा एक-सा रहता है। संसार के पदार्थ बदलते रहते हैं और बदलते रहेंगे, परन्तु ईश्वर कभी नहीं बदलता।

ईश्वर अनादि है। ईश्वर का कोई आरम्भ नहीं है, न किसी समय ईश्वर का अभाव था और न कभी होगा।

ईश्वर अनुपम है। ईश्वर जैसा कोई नहीं और जब कोई उसके तुल्य नहीं तो उससे बड़ा क्योंकर हो सकता है? उस जैसी कोई दूसरी सत्ता नहीं।

ईश्वर सर्वाधार है। वह सबका सहारा और आश्रय है। सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी आदि उसीके सहारे से स्थिर हैं। वेद में कहा है—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।

—यजु० १३।४

वह परमात्मा ही पृथ्वी और द्युलोक को धारण कर रहा है। वही शक्ति सबको स्थिर रख रही है अन्यथा ये ग्रह, उपग्रह एक दूसरे से टकराकर नष्ट हो जाएँ।

परमात्मा सर्वेश्वर है। परमात्मा सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है। वह राजाओं का राजा और सम्राटों का सम्राट् है।

परमात्मा सर्वव्यापक है। ईश्वर अणु-अणु और कण-कण में व्यापक है। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

सिफ़त तेरी हर ख़ार देता है,
हर गुञ्चा ओ गुल तेरी सदा देता है।

प्रभु काँटे और फूल सब में विद्यमान है। पत्ता-पत्ता उसका पता देता है। उसे ढूँढ़ने के लिए मक्का, मदीना, और काशी जाने की आवश्यकता नहीं, वह तो हमारे पास, हमारे हृदय में ही है—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

ईश्वर सर्वान्तर्यामी है। वह घट-घट की बात जाननेवाला है। दो व्यक्ति जो गुप्त-मन्त्रणा करते हैं ईश्वर वरुणरूप से उसे भी जानता है।

ईश्वर अजर है। वह कभी बूढ़ा नहीं होता। **वह अमर है,** उसका कभी नाश नहीं होता। **वह अभय है** किसीसे डरता नहीं, वह नित्य और पवित्र है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, ईश्वर संसार की रचना करता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय परमात्मा के ही अधीन है।

पहले भाग में ईश्वर के विशेषणों का वर्णन करके दूसरे भाग में उस ईश्वर की उपासना का विधान किया गया है। प्रभु-प्राप्ति में मूर्त्तिपूजा एक रुकावट है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में—

मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसीमें मर जाता है।

—सत्यार्थप्रकाश : एकादश समुल्लास

आर्यसमाज निराकार परमात्मा की पूजा का आदेश देता है। कोई मनुष्य, जानवर अथवा मूर्त्ति उसका स्थान नहीं ले सकती। ब्राह्मण-ग्रन्थ में कहा है—

योऽन्यां देवतामुपासते पशुरेव स देवानाम्।

—शतपथ० १४।४।२।२२

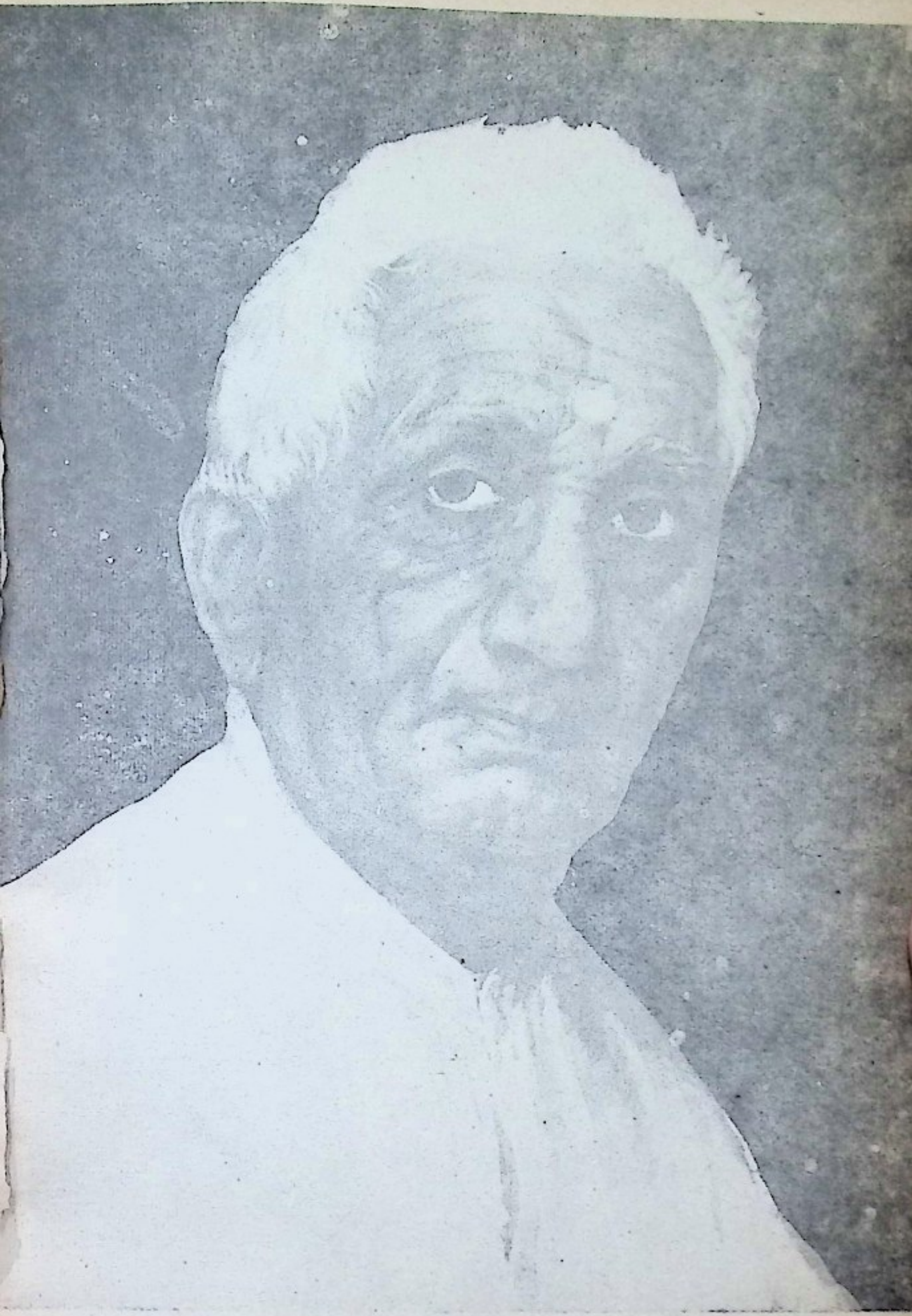
उपनिषद् भी घोषणा पूर्वक कहती है—



आर्यसमाज संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती

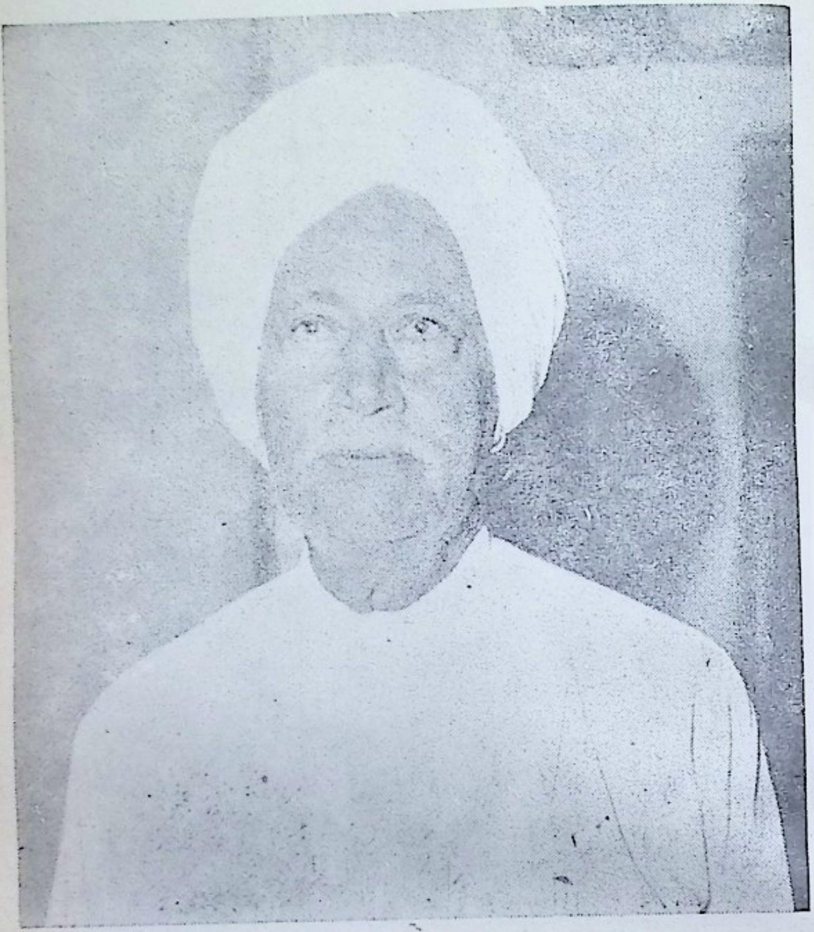


वह पवित्र स्थान जहां महर्षि दयानन्द ने जन्म लिया था



वेदों के लिए संपूर्ण जीवन अर्पित करने वाले

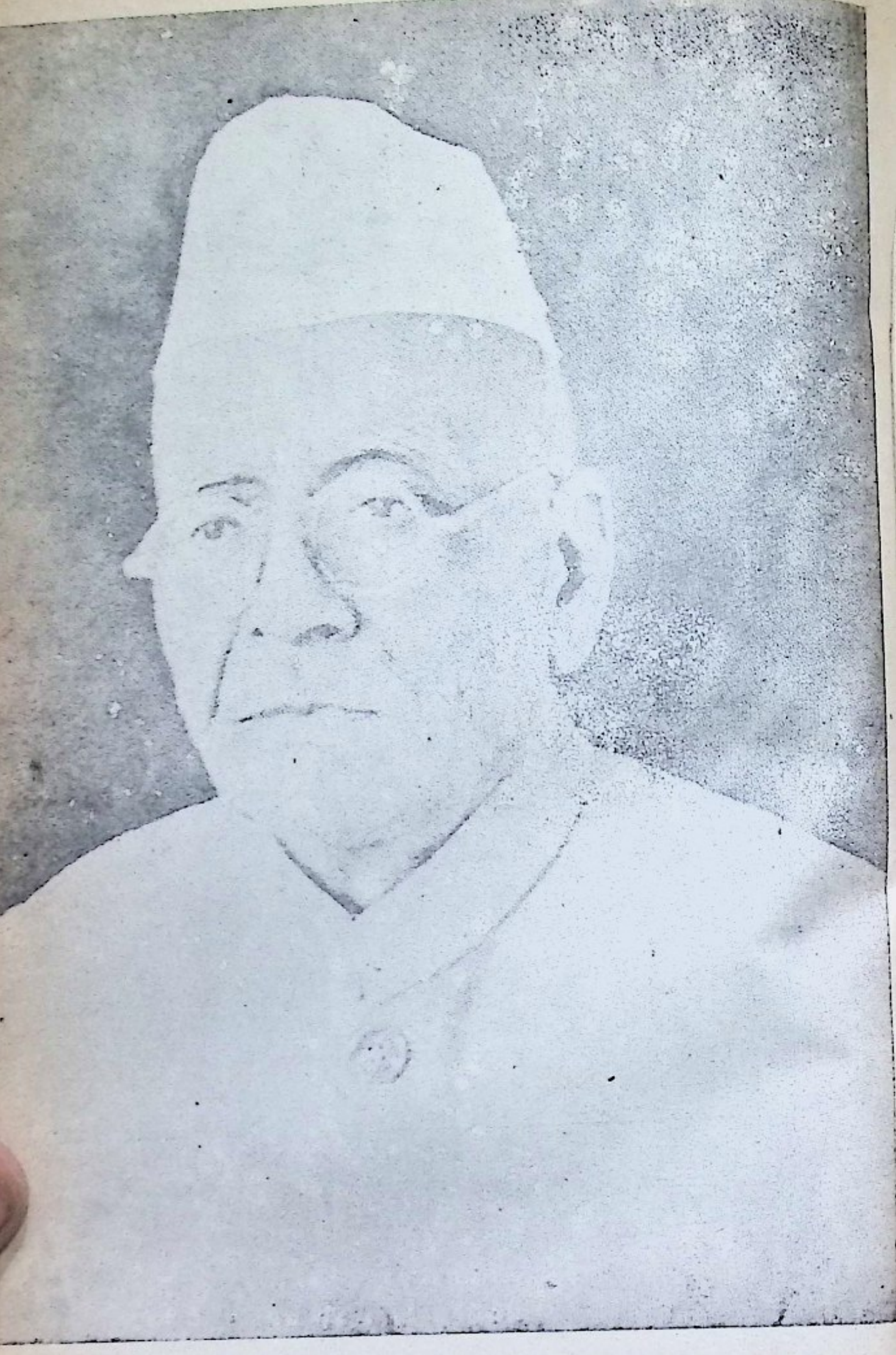
श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर



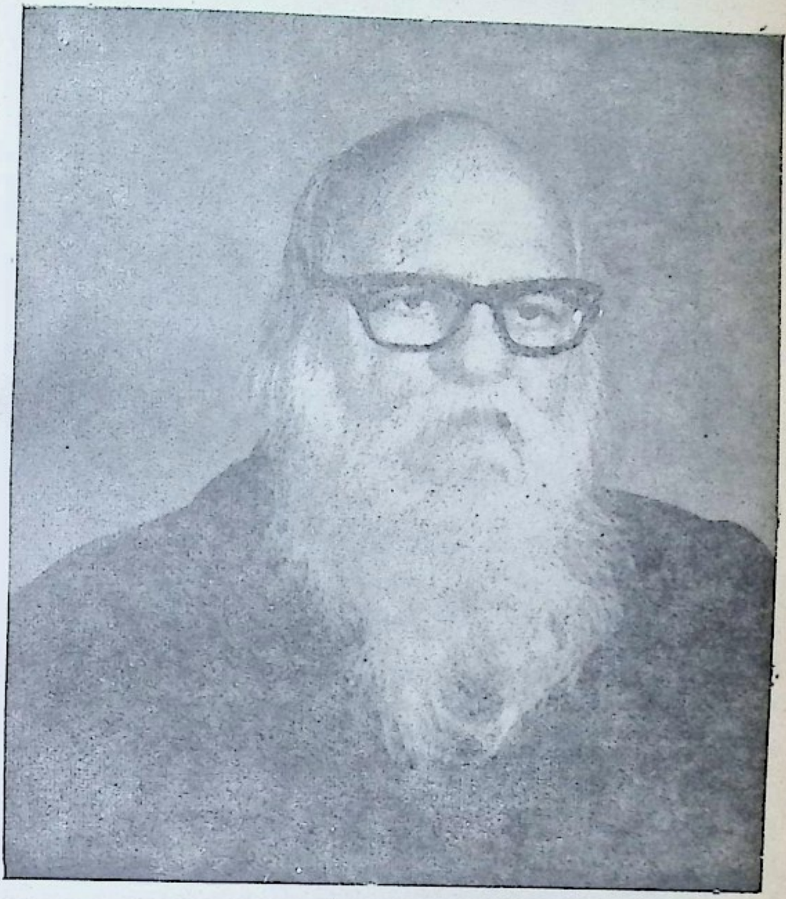
वेदों के प्रसिद्ध अन्वेषक
पं० भगवद्दत्त जी



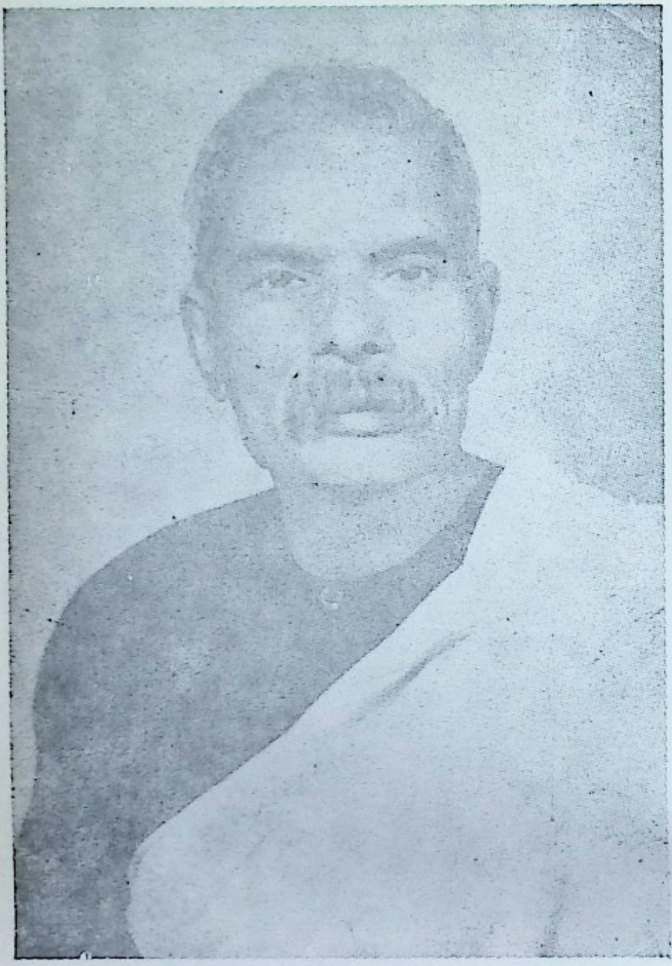
श्री स्वामी अच्युतानन्द जी सरस्वती



प्रसिद्ध आर्य विचारक
पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

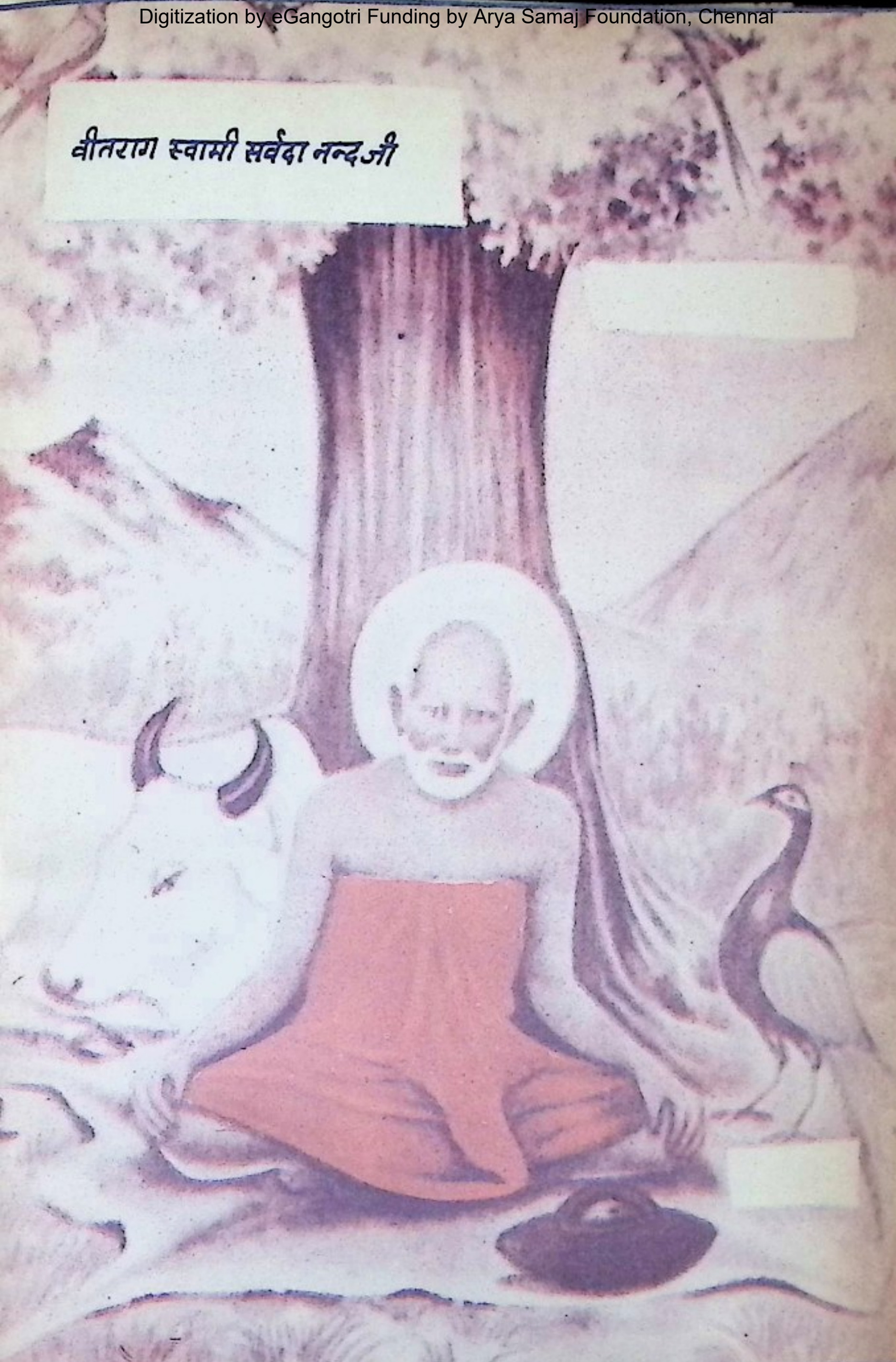


बालब्रह्मचारी—आदर्श साधक
श्री अखिलानन्द जी भरिया



प्रसिद्ध वैदिक विचारक

आचार्य श्री नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ


वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ।

—मुण्ड० २।२।५।

जो एक परमेश्वर को छोड़कर अन्य देवता की उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, वह विद्वानों में पशु ही है। हे मनुष्यो ! उठो, जागो और उस परमात्मा को जानो, अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो।

तीसरा नियम

आर्यों का परम धर्म—

वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः।
गाय गायत्रमुक्थ्यम् ॥

—ऋ० १।३८।१४

वेद मन्त्रों से अपना मुख भर ले और मेघ=बादल के समान उन्हें सर्वत्र वर्षा। स्वयं गा और दूसरों से गवा।

पहले तथा दूसरे नियम की शिक्षा का इस नियम में समावेश है। इस नियम के भी दो भाग हैं। "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" यह एक आर्ष सिद्धान्त है जिसे ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त सभी ऋषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेद का प्रतिपाद्य विषय एक नहीं है। वेद में सब कुछ है क्योंकि **"सर्वज्ञानमयो हि सः"** (मनु० २।७) वेद सब विद्याओं का भण्डार है। और इतना ही क्यों—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।

—मनु० १२। ९७

भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सबका बीज वेदों में निहित है। वेदों में अक्षर-ज्ञान से लेकर उच्चकोटि का विज्ञान विद्यमान है। मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति के लिए जितने ज्ञान और विज्ञान की आवश्यकता है वह सब वेदों में है। वेद में हमारे दैनिक कृत्यों का विधान है। उसमें जीवन और मरण के सभी विषयों का वर्णन है। वेद में व्याकरण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, वनस्पति-विज्ञान, युद्धकला, शस्त्रास्त्रविद्या, राजनीति, मनोविज्ञान, योग, सूर्य, चन्द्र, मेघ, विद्युत्, वायुविज्ञान और भौतिक-विज्ञान के रहस्य विद्यमान हैं। उनमें मधुर-वीणा और मधुर-संगीत है। अध्यात्म ज्ञान के तो वेद भण्डार ही हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्य वेदों में हैं।

उनमें सृष्टि और प्रलय के नियम हैं। वेदों में कृषि और उसके साधनों का विधान है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन के व्यवहार, मित्र के प्रति मित्र का कर्त्तव्य राजा और प्रजा का आदर्श, एक ईश्वर की भक्ति आदि अनेक विषयों का संकलन

है। अब तक जितने वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं और जो भविष्यत् में होंगे उन सबका बीज भी वेदों में विद्यमान है। वेद खोज करनेवालों के लिए समाप्त न होने वाली रिसर्च की खान है। वैज्ञानिकों के लिए विज्ञान की बातें हैं तो योगियों के लिए अलौकिक-शक्तियों का वर्णन है। वेद, धनी-निर्धन, विद्वान् और मूर्ख सबके लिए हैं।

ऐसे सत्य-ज्ञान और विद्याओं के भण्डार वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द आजीवन इस नियम का पालन करते रहे। हमें भी अपने गुरुवर के पदचिह्नों पर चलते हुए प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। मनुजी ने भी कहा है—

वेदमवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

—मनु० ४। १४७

नित्य ठीक समय पर आलस्यरहित होकर वेद का अभ्यास करें। क्योंकि यह मनुष्य का परम धर्म है और सब तो गौण धर्म हैं। वेद के विद्वानों के ऊपर भी महर्षि ने यह कर्त्तव्य डाल दिया है कि वे वेद पढ़ाएँ और सुनाएँ। जो मूर्ख हैं, वे वेद पढ़ नहीं सकते अतः उनके लिए महर्षि ने सुनने का विधान रखा है। महर्षि ने इस नियम की रचना इस प्रकार की है कि कोई भी व्यक्ति वेद के ज्ञान से वंचित न रहने पाए और आर्य लोग सदा वेद के ही वायुमण्डल में रहें।

इस नियम के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि यह नियम अधूरा है। आक्षेपकर्त्ताओं के अनुसार इस नियम का अन्तिम भाग "वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना और आचरण करना तथा करवाना आर्यों का परम धर्म है" इस प्रकार होना चाहिए था परन्तु यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। ज्ञान का प्रयोजन ही कर्म है। ज्ञान का पर्य्यवसान कर्म में होता है "ज्ञान ज्ञान के लिए है" यह प्रमादियों का सिद्धान्त है। ज्ञान का प्रयोजन ही कर्म है। ज्ञान की सफलता कर्म में है। मनुष्य को किसी वस्तु का ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उससे लाभ उठाना भी आवश्यक है। उदाहरणतः कुनेन का यह ज्ञान कि कुनेन ज्वर को दूर करती है, कुछ भी लाभदायक नहीं यदि आवश्यकता पड़ने पर इसे प्रयोग में न लाया जाए। वेद का पठन-पाठन, श्रवण और मनन होने पर वह आचरण में स्वयमेव ही आ जाएगा।

चौथा नियम

सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

—यजु० १। ५

हे व्रतों के पालक स्वामिन्! मैं व्रत का आचरण करने लगा हूँ। मुझे शक्ति दो कि मैं अपने व्रत का पालन कर सकूँ। मेरा व्रत यह है कि मैं असत्य भाषण को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूं।

यह नियम आर्यसमाज की शोभा है। जो बात सत्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध युक्तियुक्त, सृष्टिक्रमाविरुद्ध, और आत्मानुकूल हो उसे ग्रहण करने के लिए और इससे विपरीत को छोड़ने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। आर्य को सत्य का अन्वेषक होना चाहिए। और जब उसे पता चल जाए कि कोई बात असत्य है तो उसे उसी समय छोड़ देना चाहिए क्योंकि आचरण के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं। कसी वस्तु का ज्ञानमात्र चरित्र-निर्माण में सहायक नहीं हो सकता। रावण वेदों का बहुत बड़ा विद्वान् था परन्तु आचरण न करने के कारण वह राक्षस कहलाया, अतः प्रत्येक आर्य का यह कर्तव्य है कि वह सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में तत्पर रहे। सत्य जहाँ से प्राप्त हो वहीं से ले लेना चाहिए। मनु महाराज का आदेश है—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥

—मनु० २। २३९

विष से अमृत और बालक से भी उत्तम वचन ले लेना चाहिए। शत्रु से भी सदाचार सीखना और अपवित्र स्थान से भी स्वर्ण ले लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि सत्य के ग्रहण करने में हठ और दुराग्रह कदापि न करना चाहिए।

ऋषि दयानन्द सत्य के अनन्य प्रेमी थे। वे अपने समस्त जीवन में सत्य का अन्वेषण करते रहे, अतः आर्यसमाज में प्रविष्ट होनेवाले प्रत्येक नर-नारी को भी उन्होंने सत्य को अपनाने की शिक्षा दी। क्योंकि—

सत्यं हि परमं बलम् ।

सत्य सबसे बड़ा बल है। वेदों और उपनिषदों में ईश्वर को सत्य कहा गया है। सत्यम्=स, त् और यम् तीन अक्षरों के योग से बना है। 'स' जीव को कहते हैं, 'त्' ब्रह्माण्ड को और 'यम्' शासक का नाम है। इस प्रकार सत्यम् ईश्वर का नाम इसलिए है क्योंकि वह जीव और जगत् दोनों को शासन में रखता है। फिर ऐसे प्रभु को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? इस का उत्तर है **"तत् सत्ये प्रतिष्ठितम्"** वह ब्रह्म सत्य में प्रतिष्ठित है। सन्त तुलसीदासजी ने भी कहा है—

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप ।
जाके हृदय साँच है वाके हिरदय प्रभु आप ॥

सत्य का आचरण करने से हम प्रभु को प्राप्त कर सकते हैं और सत्य से विमुख होकर हम प्रभु से दूर होते जाते हैं। सम्प्रदायवादियों ने मनुष्य को सत्य से विमुख करके प्रभु पूजा के स्थान पर मनुष्य-पूजा के गढ़े में ऐसा फँसाया है कि वहाँ से त्राण पाना कठिन है। इस विषय में एक छोटा-सा दृष्टान्त है। एक व्यक्ति स्वप्न में आकाश की सैर करने पहुँच गया। वहाँ क्या देखता है कि एक व्यक्ति पालकी में बैठा हुआ है और करोड़ों व्यक्ति उसके पीछे नाचते, गाते और बाजा बजाते हुए उसका जलूस निकाल रहे हैं। थोड़ी दूर आगे चलकर उसने एक अन्य व्यक्ति को देखा जो हाथी पर बैठा हुआ था और करोड़ों मनुष्य उसके सामने सिर झुकाये खड़े थे। थोड़ा और आगे चला तो उसने एक और पुरुष की भव्य सवारी

देखी। उसके साथ भी करोड़ों शिष्य विद्यमान थे। ऐसे दृश्यों को देखता हुआ वह आगे बढ़ा और एक झोंपड़ी के पास पहुंचा तो क्या देखता है कि एक व्यक्ति जिसके मुखमण्डल पर सहस्रों सूर्यों जैसी आभा है अकेला बैठा है। पूछने पर पता लगा कि ये भव्य जलूस और सवारियाँ हजरत मोहम्मद, यीसू मसीह और महात्मा गौतम बुद्ध की थी और परमात्मा बेचारा अकेला बैठा हुआ था। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि सम्प्रदायवादियों ने अपने-अपने महापुरुषों को ईश्वर से भी ऊँची पदवी दी है। परन्तु आर्यसमाज के चौथे नियम की यह विशेषता है कि यहाँ किसी व्यक्ति को ईश्वर की पदवी नहीं दी गई। मानव-जीवन की उन्नति के लिए सत्य की कसौटी रखी गई है।

पाँचवाँ नियम

धर्मानुसार आचरण

सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

—ऋ० ७।१०४।१२

उत्तम विज्ञान को जानने की इच्छावाले मनुष्य के प्रति सत्य और असत्य वचन एक-दूसरे को दबाते हुए आते हैं। उनमें से जो सत्य और अधिक सरल होता है ज्ञानी उसको ही पसन्द करता है और असत्य को मार देता है।

मनुष्य को प्रत्येक कार्य भली-भाँति सोच-विचार कर, सत्य और असत्य का पूर्णरूपेण विवेक करके करना चाहिए। सत्य की कसौटी से परख कर, विवेक-बुद्धि द्वारा जो भी कार्य किया जाएगा वह कार्य धर्मानुसार ही होगा। इस नियम में "सत्य असत्य को विचार कर करने चाहिएँ" यह पद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह पद सूचित करता है कि हम अपनी बुद्धि पर ताला न लगा दें अपितु जो कार्य करें बुद्धिपूर्वक करें, परम्परागत अनुभवों से लाभ उठाएँ, परन्तु अन्धाधुन्ध उनके दास न बन जाएँ। यह कुआँ हमारे पिता ने बनाया था और वे इसका खारी पानी पीते थे, इसलिए हम भी खारी पानी न पीते रहें। यह नियम शिक्षा देता है कि हम लकीर के फकीर न बनें।

धर्मानुसार कार्य करने के लिए हमें धर्म के स्वरूप को जानना होगा। धर्म क्या है? **"धारणाद् धर्ममित्याहुः"** जो धारण किया जाए उसे धर्म कहते हैं।

विशेषिक-दर्शन के अनुसार भी जिन नियमों के पालन से इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति हो उन नियमों का नाम ही धर्म है। वे नियम क्या हैं, वे कौन से गुण हैं जिन्हें जीवन में धारण किया जाए। वें नियम हमें वेद के स्वाध्याय से ज्ञात होंगे क्योंकि **"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"** (मनु० २।६) वेद समस्त धर्मों के मूलस्रोत हैं। जो वेद-विहित कर्म हैं उन्हींका पालन करना धर्म है।

धर्म की बड़ी महिमा है। महाभारत में कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं
जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

—महा० उद्यो० ४०।१३

किसी कामना से, भय से अथवा लोभ से धर्म का त्याग न करे। चाहे प्राण चले जाएँ परन्तु धर्म को कभी न त्यागे क्योंकि धर्म नित्य है, सुख दुःख तो अनित्य हैं। जीवात्मा नित्य है किन्तु इसका साधन शरीरादि अनित्य हैं। अनित्य को छोड़कर नित्य में प्रतिष्ठित होना चाहिए।

आपत्ति और संकटों के आने पर भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए अपितु धर्माचरण और धर्म की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।

—मनु० ८।१५

मारा हुआ धर्म मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है अतः धर्म को न मारना चाहिए जिससे मारा हुआ धर्म हमें न मार दे।

यह नियम समाज में सुख और शान्ति की गंगा बहाने का साधन है। यदि मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझकर इस नियम का ही पालन करने लग जाए तो कुछ ही समय में संसार से छल, कपट, चोरी, घूंसखोरी आदि सारी कुप्रथाएँ दूर होकर देश पुनः स्वर्गधाम बन जाए।

ये पाँच नियम मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति से सम्बन्ध रखते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाङ्गीण नैतिक और चारित्रिक विकास करने का आदेश देते हैं।

छठा नियम

आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

लोकं पृण। —यजु० १२।५४

संसार को उन्नत करो।

छठे नियम से दसवें नियम तक पाँच नियम समाज के साथ मनुष्य के कर्त्तव्यों का, सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा का बोध कराते हैं।

यह नियम ऐसा अद्भुत और अनोखा है जो संसार के और किसी संघटन में नहीं पाया जाता। प्रत्येक समाज अपने विचारवाले लोगों को विशेषता प्रदान करता है। जैसे मुसलमान और ईसाई मोमिन और ईसाइयों की सहायता करना तो अपना कर्त्तव्य समझते हैं परन्तु दूसरों के लिए इनके सम्प्रदाय में कोई स्थान नहीं। इसके विपरीत

वैदिक धर्म संसार के लिए है। संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है। आर्यसमाज किसी एक देश या जाति विशेष से सम्बन्धित नहीं। एक आर्य के लिए आर्यसमाज के सदस्य ही नहीं अपितु संसार के दूसरे व्यक्ति, व्यक्ति ही नहीं पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी प्राणी सहानुभूति दया और प्रेम के पात्र हैं। जहाँ दूसरे सम्प्रदायों के व्यक्ति अन्य प्राणियों को मारकर खा जाते हैं वहाँ वैदिकधर्म में बलि-वैश्वदेव यज्ञ द्वारा उनकी रक्षा और पालन-पोषण का विधान है और यह बलिवैश्वदेव प्रत्येक वैदिकधर्मी का नित्य कर्म है। यह नियम बिल्कुल पूर्ण है, इसे इससे अधिक सुधारना असम्भव है।

उपकार क्या है ? शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति कहकर महर्षि ने उपकार को भी निश्चित कर दिया है। मतों में विशेषकर शारीरिक उन्नति पर ध्यान नहीं दिया जाता। उनके विचार में धर्म का सम्बन्ध स्वर्ग की बातों से है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि हमारा शरीर आत्मा का रथ है। शरीर ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं तो आत्मा कभी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकेगा। ऋषि दयानन्द धर्म में शारीरिक उन्नति को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं क्योंकि दुर्बल मनुष्य प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः शरीर को सर्वाङ्ग सुन्दर, सुडौल, अत्यन्त बलशाली, दृढ़ हृष्ट-पुष्ट, और स्वस्थ बनाना चाहिए। वैदिक धर्मोद्धारक महर्षि दयानन्द की दृष्टि में स्वस्थ शरीर स्वर्गारोहण की प्रथम सीढ़ी है।

शारीरिक उन्नति के पश्चात् आत्मिक उन्नति है। जिस समय मन सहित समस्त इन्द्रियसमूह आत्मा के वश में हो जाता है तथा अधर्म और अनीश्वरभाव, आसक्ति और अविवेकादि दुर्गुण नितान्त निर्मूल हो जाते हैं, धर्म और आस्तिकभाव, अनासक्ति और विवेकादि गुण अत्यन्त उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं एवं नाना-विध सांसारिक पदार्थों का संग्रह होने पर भी उनकी आत्मा जल पर कमलवत् कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, उस अवस्था को आत्मिक उन्नति कहते हैं।

आत्मिक उन्नति को समझने के लिए आत्मा को समझना आवश्यक है। प्रत्येक प्राणधारी एक आत्मा है। प्रत्येक आत्मा अनादि है। आत्मा सदा से था, है और सदा रहेगा। आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। शुभ कर्मों द्वारा मनुष्य ऊपर उठ सकता है और बुरे कर्मों से नीचे गिरता है, अवनत होता है। आत्मा की सब से उच्च अवस्था का नाम मुक्ति है। आर्यसमाज संसार के समस्त लोगों को इसी अवस्था पर ले जाना चाहता है। यदि संसार में कुछ भी व्यक्ति ऐसे देवता बन जाएँ तो वे सामाजिक, राजनीतिक, शारीरिक और मानसिक शान्ति के केन्द्र होंगे। उनका प्रेम समस्त संसार को अपने प्रेम में मस्त बना देगा। ऐसे सदाचारी दूसरे व्यक्तियों की भी काया पलट देंगे। शक्तिशाली निर्बलों को नहीं सता सकेंगे। इस प्रकार एक नये संसार की सृष्टि होगी जहाँ आदर्शों का साम्राज्य होगा। वेद न्याय के ग्रन्थ होंगे और मनुष्यों की अपनी आत्माएँ ही जज होंगी। पाप और अधर्म अपराधी होंगे और स्वयं प्रायश्चित्त ही जेलें होंगी। इस प्रकार संसार एक वैदिक स्वर्ग बन जाएगा।

पक्की ईंटों से निर्माण किया गया भवन ही दृढ़ होगा। इस प्रकार दृढ़ और शक्तिशाली शरीर तथा आत्मिक गुणों से विभूषित मनुष्यों के समूह से जिस समाज

का निर्माण होगा वह भी उन्नत और और शक्तिशाली होगा। कभी किसी को दुःख प्राप्त होने पर ऐसी उन्नत समाज के सदस्य सहानुभूति और परोपकार से पीछे नहीं हटते, आर्यसमाज ने अपने अल्पकाल में थोड़ी सामाजिक उन्नति नहीं की। आर्यसमाज ने अनाथालय, विधवा-आश्रम, वनिता विश्राम मण्डल, गुरुकुल, कन्या पाठशाला, डी. ए. वी. स्कूल और कॉलेजों का सारे भारतवर्ष में एक जाल-सा बिछा दिया है। अवसर पड़ने पर आर्यसमाज के सदस्यों ने अपनी जान को हथेली पर रखकर, बाढ़-पीड़ितों, भूकम्प और अकाल-पीड़ितों की सराहनीय सहायता की है।

वैदिकधर्म एक सार्वभौमधर्म है। वैदिक-संस्कृति ही संसार की वरणीय संस्कृति हो सकती है। इस नियम में सामाजिक शब्द संकुचित अर्थ में प्रयुक्त न होकर विशुद्ध और विशाल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सामाजिक शब्द धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और समाज सम्बन्धी सभी क्षेत्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक-राजनीति की दृष्टि से विश्व एक राष्ट्र होना चाहिए और यदि विश्व में चक्रवर्ती साम्राज्य World-federation की स्थापना हो जाए तो समस्त अशान्ति और भय शीघ्र दूर हो जाएँ।

वैदिक आर्थिक दृष्टिकोण भी अत्यन्त सुन्दर है।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। —यजु० ४०।१

किसीके धन का अपहरण करने का प्रयत्न मत करो। इस एक ही शिक्षा से संसार के सारे संघर्ष और झगड़े समाप्त हो सकते हैं।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठासः। —ऋ० ५।६०।५

हे मनुष्यो! न तुम में कोई बड़ा है न छोटा है, तुम सब समान हो। अतः परस्पर समान भाव से सबकी सब प्रकार की उन्नति करने में तत्पर रहो। वैदिक संस्कृति में गोरे-काले, रंग-रूप, जाति आदि का कोई भेदभाव नहीं है।

जो संसार में आकर भलाई नहीं करते उनका जीवन गूलर के फूल में रहने वाले कीड़े के सदृश व्यर्थ ही है। स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता पहले से भी अधिक है। आर्यजनों को अपनी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करके वेद की इन दिव्य भावनाओं को और ऋषि के दिव्यस्वप्न को साकार रूप देने के लिए प्राणार्पण से जुट जाना चाहिए। अतः—

परोपकारी बन वीर! आओ नीचे पड़े भारत को उठाओ।

किसी से द्वेष मत करो जहाँ तक हो सके सबके साथ भलाई करो क्योंकि—

भलाई कर कि वह तुझ को भले कामों का फल देगा।
तेरी झोली वह आशा के फल और फूलों से भर देगा॥

सातवाँ नियम

प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार

सब से प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

—यजु० ३६।१८

हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें, परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार करें।

मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्र। —ऋ० ५।३०।६

हे ऐश्वर्यशाली आत्मन्! मायावियों को मायाओं से मार दे।

आर्यों का दूसरों के प्रति वर्त्ताव इस नियम के अनुसार होगा। यह नियम वैदिक आचार-शास्त्र का सार है। इस नियम में दूसरों के प्रति व्यवहार के लिए तीन अति महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार और यथायोग्य। आर्यों के व्यवहार की आधारशिला विश्वप्रेम है। आर्य प्रेम की साक्षात् मूर्ति होंगे। परन्तु प्रेम में मनुष्य अन्धा हो जाता है। इसलिए सचेत करते हुए कहा—प्रेम करो, परन्तु अन्धे होकर नहीं।

प्रेम धर्मानुसार और यथायोग्य होना चाहिए। प्रेम वातावरण के अनुसार होना चाहिए। यदि कोई भयंकर जीव है तो क्षत्रिय का कर्तव्य है कि उसे मार दे। वैश्य के व्यापार सम्बन्धी कार्यों में यदि जंगली पशु कष्ट दें तो वह उन्हें मार सकता है। आत्मरक्षा के लिए आक्रमण करना अपराध नहीं है। जो मनुष्य जिस योग्य हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्णजी का संदेश है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

—गीता ४।११

जो मनुष्य मेरे साथ जैसा व्यवहार करते हैं मैं भी उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करता हूँ। श्रीकृष्णजी समस्त मानवों को संदेश देते हुए कहते हैं, "हे मनुष्यो! तुम भी आततायियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा ये तुम्हारे साथ करते हैं।" बात है भी ठीक—

कृते प्रति कृतिं कुर्याद्धिंसिते प्रतिहिंसितम्।
अत्र दोषं न पश्यामि शठे शाठ्यं समाचरेत्॥ —महाभारत॥

आक्रमणकारी पर आक्रमण, हिंसक के साथ हिंसा और शठ के साथ शठता ही करे इसमें कोई दोष नहीं है। और भी—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

—महा०उद्यो० ३७।७

जो मनुष्य जिसके प्रति जैसा व्यवहार करे उसके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए यह धर्म है। ठगी से व्यवहार करनेवाले के साथ ठगी का व्यवहार

करना चाहिए। भला व्यवहार करनेवाले के साथ भलाई का व्यवहार करना, चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्ण का जीवन इस का ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने कंस शिशुपाल, जरासन्ध और दुर्योधन आदि छलियों का नाश छल से ही कराया था। आत्म-संरक्षण भी धर्म है—

शरीरं धर्मसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात्स्रूयते धर्मः पर्वतात्सलिलं यथा॥

शरीर धर्म का सर्वस्व है अतः इसकी प्रयत्न से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि धर्म शरीर से ऐसे ही उत्पन्न होता है जैसे पर्वत से पानी। इसलिए जिस प्रकार से हो आत्मरक्षा और शत्रु का साम्मुख्य करना ही चाहिए। क्योंकि—

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं।
वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय पराभूत हो मरते हैं॥

जो मायावियों का माया के द्वारा संहार नहीं करते वे मूढ़बुद्धि लोग नष्ट होते हैं। महर्षि दयानन्दजी लिखते हैं कि—

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुख-लाभ और जो विपरीत वर्त्तता है, वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है।"

—व्यवहारभानु

यथायोग्य व्यवहार के सम्बन्ध में नीति में कहा है—

नात्यन्तसरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥

संसार में अत्यन्त सरल होकर नहीं रहना चाहिए। वन में जाकर देखो वहाँ जितने टेढ़े वृक्ष होते हैं वे सब खड़े रहते हैं परन्तु जो सीधे होते हैं वे सब काट लिये जाते हैं। सरल, साधु, सदाचारी पुरुषों के साथ कुटिलता मत करो उनके साथ सरलता का व्यवहार करो परन्तु दुष्टों के साथ टेढ़ापन अत्यन्त आवश्यक है।

पन्रतु दुष्टों को दण्ड देते समय भी उनके कल्याण की भावना हृदय में अवश्य होनी चाहिए।

धर्मानुसार का यह अर्थ नहीं है कि आर्यसमाजस्थों के साथ तो प्रेम का व्यवहार करें और अन्य मतावलम्बियों के साथ विरोध किया करें। नहीं, जो भले हैं उनके साथ भलाई और जो दुष्ट हैं, आततायी हैं, उन्हें दण्ड दिया करें।

महात्मा गांधी के अहिंसावाद और लेनिन के साम्यवाद के मुकाबले में आर्यसमाज का यथायोग्यवाद उपस्थित किया जा सकता है।

आठवाँ नियम

विद्या का प्रकाश

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

केतुं कृण्वन्नकेतवे। —यजु० २९।३७

अज्ञानियों को ज्ञान दो।

प्रत्येक आर्य का यह कर्तव्य है कि वह अविद्या को नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश करे। उलटे, विपरीत ज्ञान का नाम अविद्या है। महर्षि पतञ्जलि ने अविद्या

का लक्षण इस प्रकार किया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

—यो० २।५

अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा समझने का नाम अविद्या है। आर्यों को इस अविद्या का नाश करना चाहिए।

यथार्थज्ञान अर्थात् सीधी और सच्ची समझ का नाम विद्या है। अनित्य को अनित्य, अपवित्र को अपवित्र, दुःख को दुःख, अनात्मा को अनात्मा तथा नित्य को नित्य, पवित्र को पवित्र, सुख को सुख और आत्मा को आत्मा जानने और मानने का नाम विद्या है। आर्य सभासदों को इसकी वृद्धि करनी चाहिए।

विद्याहीन मनुष्य न ईश्वर को पा सकता है, न सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकता है।

अविद्या के समान मनुष्य का दूसरा शत्रु नहीं है। महाभारत में कहा है—

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ।।

—महा० शा० २९७।२८

राजन् ! जीव का एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। वह शत्रु है अज्ञान। उस अज्ञान से आवृत्त और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त निर्दयता पूर्ण तथा भयंकर कर्म कर बैठता है।

यथार्थज्ञान, विद्या का प्रकाश करने के लिए पहले अविद्या का नाश करना होगा। अविद्या के नाश होने पर ही विद्या का विस्तार हो सकेगा। यदि संसार के समस्त मानव अपने ज्ञान को दूसरों को देने का प्रयत्न करें तो थोड़े ही समय में समस्त संसार विद्या के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है। परन्तु यहाँ तो कथा ही उलटी है। एक तो हम कुछ जानते ही नहीं, और यदि किसी प्रकार कुछ ज्ञान हो जाए तो फिर हम यह प्रयत्न करते हैं कि कोई दूसरा इसे जान न ले। बहुत-से व्यक्ति अपनी विद्या को अपने साथ ही लेकर संसार से चले जाते है।

आर्यसमाज के इस नियम की शिक्षा और किसी सम्प्रदाय में नहीं मिलेगी। हाँ, इस के विपरीत कुरान में लिखा है, "हमने काफिरों के मुख पर मोहरें लगा दीं, आँखों पर झिल्ली लगाई और कानों में सिक्का भर दिया कि वे खुदा की बातें न कर सकें।" ईसामसीह ने भी ऐसा ही कहा है, "मैं सूअरों के आगे मोती फेंकने नहीं आया।" इसका स्पष्ट अर्थ है अन्य मतावलम्बियों को ज्ञान न देना। संसार में वैदिक-धर्म ही है जो अविद्या को हटाकर प्रत्येक मानव को विद्या के भूषण से विभूषित करना चाहता है। महर्षि मनु महाराज ने कहा भी है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।।

—मनु० ४।२३३

संसार में विद्यादान से बढ़कर कोई दान नहीं है।

नवाँ नियम

सब की उन्नति

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥

ऋ० १० । १९१ । २

तुम सब एक साथ चलो, तुम सब एक साथ बोलो, तुम्हारे मन एक जैसा जानें। जिस प्रकार पूर्ण व्यवहार-कुशल ज्ञानी लोग अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तुम भी वैसा ही करो।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रहकर उन्नति के मार्ग में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। व्यक्ति की उन्नति समाज के विना असम्भव है। एक मनुष्य की उन्नति और अवनति उसके पड़ौसियों तथा देश की उन्नति और अवनति पर निर्भर है। यदि हमारे ग्राम, पथ, घाट आदि स्वच्छ न होंगे तो हम स्वस्थ नहीं रह सकते। यदि हम अपने पुत्र को उत्तम चरित्रयुक्त बनाना चाहते हैं तो हमें ग्रामवासियों को भी उत्तम चरित्रयुक्त बनाना होगा। यदि स्वास्थ्य के नियमपालन में आपका पड़ौसी आपका साथ नहीं देता तो आप स्वस्थ कैसे रह सकते हैं? यदि किसी देश में सारे ही मूर्ख एवं अशिष्ट बसते हों तो वहाँ किसी विद्वान् का उत्पन्न होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस प्रकार व्यक्तिगत सुख और दुःख समाज के सुख और दुःख पर निर्भर है अतः यह नियम सब की उन्नति में अपनी उन्नति का पाठ पढ़ाता है।

किसी भी समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति में स्वार्थ सबसे बड़ा बाधक है। स्वार्थ के कारण उन्नति रुक जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना उल्लू सीधा करना चाहता है चाहे समाज की कितनी ही हानि क्यों न हो जाए। इस मनोवृति को दूर करने के लिए इस नियम में यह विधान किया गया है कि मनुष्य को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। कितनी भव्य भावना है! कैसा सुन्दर नियम है! एक व्यक्ति का सुख समस्त समाज पर निर्भर है। मनुष्य एक-दूसरे के साथ इस प्रकार सम्बन्धित है कि वह समाजरूपी श्रृंखला की किसी भी कड़ी को हानि नहीं पहुँचा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति करे, परन्तु उसे अपनी उन्नति में ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। उसे दूसरों की उन्नति की ओर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि मैं आगे बढ़ने के लिए, उन्नति करने के लिए आया हूँ पीछे पड़ने के लिए नहीं, परन्तु यह तभी हो सकेगा जब हम दूसरों की उन्नति में साधक हों जिससे वे हमारी उन्नति में साधक बनें। प्रत्येक व्यक्ति उन्नति करता हुआ, उन्नति की सीढ़ी पर खड़ा होकर दूसरों को नीचे से ऊपर खींचे। उसकी यह दिव्य कामना होनी चाहिए—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

सब सुखी रहें, सब नीरोग हों, सब का भला हो, कोई दुःखी न रहे।

यदि इस नियम पर आचरण किया जाए तो सब लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाएँ। फिर League of Nations तथा U. N. O. जैसे संगठनों की आवश्यकता ही न रहे और संसार शान्ति-निकेतन बन जाए।

दसवाँ नियम

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

—य० ४० । ११

जो मनुष्य समाजधर्म और व्यक्तिधर्म दोनों को एक साथ जानता है, अर्थात् दोनों का साथ-साथ पालन करता है वह व्यक्तिधर्म से मृत्यु को पार करके समाजधर्म से अमर हो जाता है।

यह नियम व्यक्तिगत और सामाजिक संघर्ष को दूर करने के लिए बनाया गया है। व्यक्ति और समाज परस्पर अवलम्बित और एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामंजनपदस्यार्थे ह्यात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

महा० उद्यो० ३७ । १

इस श्लोक में बहुत अच्छी प्रकार प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार अन्तिम महत्त्व व्यक्ति को है और व्यक्ति को लेकर ही समाज का महत्त्व हैं। John Stuart Mill के अनुसार व्यक्ति विकास के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आवश्यक है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की हत्या करके आदर्श व्यक्ति-विकास सम्भव नहीं। यह नियम वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वहितकारी नियमों से स्वतन्त्र है। अपना भवन किस प्रकार का बनाना, किस प्रकार का भोजन करना, कैसे वस्त्र धारण करना आदि कर्म प्रत्येक के हितकारी नियम हैं ऐसे नियमों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है।

परन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक सर्वहितकारी नियमों का जानना और पालना परमावश्यक है। सामाजिक सर्व-हितकारी नियमों में पञ्चमहायज्ञ, सोलह संस्कार, वेद का स्वाध्याय, परोपकार, सब

---

१. कुल की रक्षा के लिए एक को त्याग देना चाहिए, ग्राम की रक्षा के लिए कुल छोड़ देना चाहिए, जनपद के लिए ग्राम और आत्मा की रक्षा के लिए पृथिवी को छोड़ देना चाहिए।

की उन्नति में अपनी उन्नति आदि सम्मिलित हैं। इनको न करने से समाज की हानि होती है और समाज की व्यवस्था टूटती है। मनुष्य चाहे कितना ही गुणी हो, परन्तु अकेला मनुष्य दु:ख पाता है और कष्ट उठाता है। जैसे मोती सोने में जड़े जाने की अपेक्षा रखता है इसी प्रकार मनुष्य समाज में रहने की इच्छा करता है। पशु जंगल में रहकर जीवन व्यतीत कर सकता है परन्तु मनुष्य अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर है। मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं कि वह स्वयं ही जोते, बोये, स्वयं ही काटे, स्वयं ही सीये और बुने। इसीलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा गया है। जब मनुष्य समाज का एक अंग है तो उसके लिए समाज के नियमों का पालन करना भी आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र और प्रत्येक सर्व-हितकारी नियम में सब परतन्त्र रहें तभी व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति हो सकती है।

नियमों पर एक दृष्टि

पहला नियम यह बताता है कि प्रभु ही ज्ञान का स्रोत है। दूसरे नियम में उस ईश्वर का स्वरूप बताया गया है। तीसरा नियम यह बताता है कि वेद ही सत्य ज्ञान और अखिल विद्याओं का भण्डार है अत: इसका पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परमधर्म है। इसके साथ ही चौथे, नियम में इस परम धर्म को पालन करते हुए सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। पाँचवें नियम में पुन: प्रत्येक कार्य को सत्य और असत्य के विवेक से करने का आदेश है। छठा नियम आर्यसमाज के उस मुख्य उद्देश्य को बताता है जिसके लिए महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। सातवाँ नियम यह बताता है कि मनुष्य को समाज में रहते हुए सबके साथ प्रीतिपूर्वक यथायोग्य वर्त्तना चाहिए। परन्तु प्रीति में मनुष्य अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है जिससे अविद्या फैलने का भय है, अत: ऋषि ने कहा अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। अविद्या का नाश करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को यह निश्चय करना चाहिए कि मैं अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझूँगा तथा अपने हितकारी नियमों में स्वतन्त्र रहता हुआ भी सामाजिक सर्वहितकारी नियमों में परतन्त्र रहूँगा।

महर्षि दयानन्द ने अपनी योगमयी, तपस्वी और ऋषि-बुद्धि से वेद-शास्त्र आदि सहस्रों ग्रन्थों का मन्थन करके ये नियम हमारे समक्ष रक्खे हैं। तनिक गम्भीर दृष्टि से देखें तो कौनसी बात रह गई है जिसका महर्षि ने वर्णन न किया हो। पाठकों से निवेदन है कि वे गम्भीरता पूर्वक इन नियमों पर विचार करें और यदि वे उनको सर्वहितकारी, मानव उन्नति में सहायक और कल्याणकारी समझें तो आर्यसमाज का सदस्य बनकर आर्यसमाज के कार्यों में सहयोग दें और महर्षि दयानन्द के दिव्य स्वप्नों को साकार करने में प्रयत्नशील बनें।

आर्यसमाज के दस नियमों का पद्यानुवाद

रचयिता श्री रविदत्तजी शास्त्री

सब सद् विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं ।
है आदि मूल सब का परमेश्वर ऋषिवर यह बतलाते हैं ।।१।।
वह प्रभु सत्, चित्, आनन्दरूप और निराकार शुभ सत्ता है ।
है सर्वशक्ति का स्रोत दयालु, अनुपम अज व अनन्ता है ।।
वह निर्विकार, अनुपम, अनादि, सर्वोत्तम न्याय विधाता है ।
सर्वेश्वर, सर्वाधार, अजर और अमर, अभय सुखदाता है ।।
सर्वान्तर्यामी है पवित्र वही नित्य सृष्टि का कर्त्ता है ।
सब का उपास्य है देव वही दुःख द्वन्द्व सभी के हर्त्ता हैं ।।२।।
सद् विद्याओं के स्रोत वेद, उनका पढ़ना, गुनना सुनना ।
है आर्य मात्र का परमधर्म, सबको उनके रंग में रंगना ।।३।।
हैं सत्य असत्य जगत् में दो निर्णीत शुभाशुभ पथ माने ।
है आर्य मात्र का व्रत पुनीत वह सत्य सुने, माने, जाने ।।४।।
है धर्मप्राण आर्यों का जीवन, सत्य असत्य विवेचन ही ।
रहकर असत्य से दूर सदा, शुभ सत् पथ का निर्देशन ही ।।५।।
कर स्वस्थ देह, उन्नत-आत्मा, और शुभ समाज गौरवशाली ।
करते जग का उपकार आर्य, बनकर जग उपवन के माली ।।६।।
है प्रेम, धर्म और नीतिपूर्ण, आर्यों का शुभ आचार सदा ।
और प्रीतिपूर्वक, धर्म सहित, शुभ यथायोग्य व्यवहार सदा ।।७।।
खो अन्धतमस् अविद्या का, विद्या का सूर्य प्रकाशित कर ।
आलोक ज्ञान का बिखराते हैं, आर्य सदा भूमण्डल पर ।।८।।
निज उन्नति से सन्तुष्ट नहीं, रहते हैं आर्य कभी जग में ।
हैं प्राणि-मात्र को साथ लिए, चलते शुभ उन्नति के मग में ।।९।।
परतन्त्र रहो सब के हितप्रद, सामाजिक नियम विधानों में ।
बनकर स्वाधीन सदा विचारो निज हित के सुखद तरानों में ।।१०।।